जैन धर्म में मुक्ति की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन

जैन दर्शन के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर[१] आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है, उसे 'मोक्ष' कहा जाता है। कर्म मलों के अभाव में कर्म-जनित आवरण या बन्धन भी नहीं रहते और यह बन्धन का अभाव ही मुक्ति है[२]। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है[३]। अनात्मा अर्थात् पर में ममत्व या आसक्ति रूप आत्माभिमान का दूर हो जाना ही मुक्ति है[४]। यही आत्मा की शुद्धावस्था है। बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्यायदृष्टि का विषय है। आत्मा की विरूप पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। पर पदार्थ, पुद्गल परमाणु या जड़ कर्म वर्गणाओं के निमित्त से आत्मा में जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जिनके कारण पर मै (मेरा पन) उत्पन्न होता है यही विरूप पर्याय है, परपरिणति है, स्व की पर में अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनों एक ही आत्म-द्रव्य या चेतना की दो अवस्थाएँ मात्र हैं, जिस प्रकार स्वर्ण कुण्डल और स्वर्ण मुकुट स्वर्ण की दो अवस्थाएँ हैं। लेकिन यदि मात्र विशुद्ध तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाए तो बन्धन और मुक्ति दोनों की व्याख्या सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व स्व स्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप में कभी भी परिणित नहीं होता। विशुद्ध तत्त्वदृष्टि से तो आत्मा नित्य मुक्त है। लेकिन जब तत्त्व की पर्यायों के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ किया जाता है, तो बन्धन और मुक्ति की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, क्योंकि बन्धन और मुक्ति पर्याय अवस्था में ही सम्भव होती हैं। मोक्ष को तत्त्व माना गया है लेकिन वस्तुत: मोक्ष बन्धन के अभाव का ही नाम है। जैनागमों में मोक्ष तत्त्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है—१. भावात्मक दृष्टिकोण २. अभावात्मक दृष्टिकोण ३. अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

मोक्ष पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार

जैन दार्शनिकों ने मोक्षावस्था पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे निर्बाध अवस्था कहा है[५]। मोक्ष में समस्त बाधाओं के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। मोक्ष बाधक तत्त्वों की अनुपस्थिति और पूर्णता का प्रगटन है। आचार्य कुंन्दकुन्द ने मोक्ष की भावात्मक दशा का चित्रण करते हुए उसे शुद्ध, अनन्त चतुष्टय युक्त, अक्षय, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय अनुपम, नित्य, अविचल एवं अनालम्ब कहा है[६]। आचार्य उसी ग्रन्थ में आगे चलकर मोक्ष में निम्न बातों की विद्यमानता की सूचना करते हैं[७]—(१) पूर्णज्ञान (२) पूर्णदर्शन (३) पूर्णसौख्य (४) पूर्णवीर्य (शक्ति) (५) पूर्णदर्शन (६) अस्तित्व (७) सप्रदेशता। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष-दशा के जिन सात भावात्मक तथ्यों का उल्लेख किया है वे सभी भारतीय दर्शनों को स्वीकार नहीं हैं। वेदान्त सप्रदेशता को अस्वीकार कर देता है। सांख्य सौख्य एवं वीर्य को तथा न्याय-वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध-शून्यवाद अस्तित्व का भी निरास कर देता है और चार्वाक दर्शन मोक्ष की अवधारणा को ही समाप्त कर देता है। वस्तुत: मोक्षावस्था को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के प्रति उत्तर के लिए ही मोक्ष की इस भावात्मक अवस्था का चित्रण किया गया है। भावात्मक दृष्टि से जैन विचारणा मोक्षावस्था में अनन्त चतुष्टय की उपस्थिति पर बल देती है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को जैन विचारणा में अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। बीज रूप में वह अनन्त चतुष्टय सभी जीवात्माओं में उपस्थित है, मोक्ष-दशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से ये पूर्ण रुप में प्रगट हो जाते हैं। यह प्रत्येक आत्मा का स्वभाविक गुण है जो मोक्षावस्था में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। अनन्त चतुष्टय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सौख्य (अव्यबाघसुख) आते हैं। लेकिन अष्टकर्मों के प्रहाण के आधार पर सिद्धों के आठ गुणों की मान्यता भी जैन विचारणा में प्रचलित है। १. ज्ञानवरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है। २. दर्शनावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है। ३. वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध, अनश्वर, आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है। ४. मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक सम्यक्त्व) से युक्त होता है। मोहकर्म के दर्शन मोह और चारित्रमोह ऐसे, दो भाग किए जाते हैं। दर्शनमोह के प्रहाण से यथार्थ दृष्टि और चारित्रमोह के प्रहाण से यथार्थ चारित्र (क्षायिक चारित्र) का प्रगटन होता है, लेकिन मोक्ष-दशा में क्रिया रूप चारित्र नहीं होता, मात्र दृष्टि रूप चारित्र होता है अत: उसे क्षायिक सम्यक्त्व के अन्तर्गत ही माना जा सकता है, वैसे आठ कर्मों की[३१] प्रकृतियों के प्रहाण के आधार पर सिद्धों के ३१ गुण माने गये हैं, उसमें यथाख्यात चारित्र का स्वतंत्र गुण माना गया है। ५आयुकर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी हो जाता है अत: वह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। ७ गोत्रकर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघुत्व[८] से मुक्त हो जाता है अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं उनमें छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच का भाव नहीं होता। ८. अन्तरायकर्म का प्रहाण हो जाने से बाधा रहित होता है, अर्थात् अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है।[९] अनन्त शक्ति का यह विचार मूलत: निषेधात्मक ही है, यह मात्र बाधाओं का अभाव है। लेकिन इस प्रकार अष्ट कर्मों के प्रहाण के आधार पर मुक्तात्मा के आठ गुण की व्याख्या करना मात्र एक व्यावहारिक संकल्पना ही है, उसके वास्तविक स्वरूप का निर्वचन नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे समझने का प्रयास मात्र है, जो उसका मात्र व्यवहारिक मूल्य है। वस्तुत: तो वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमीचन्द्र गोम्मटसार में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट रूप से कहते हैं, सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जो ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं, उनके निषेध के लिए है।[१०] मुक्तात्मा में केवल ज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड़ मानने वाली वैभाषित बौद्धों और न्याय-वैशेषिक दर्शन की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले जड़वादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष-दशा का समग्र भावात्मक चित्रण अपना निषेधात्मक मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिए है।

अभावात्मक दृष्टि से मोक्ष तत्त्व पर विचार

जैनागमों में मोक्षावस्था का चित्रण निषेधात्मक रूप से भी हुआ है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग में मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है— मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्म-जन्य उपाधियों का भी अभाव होता है, अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेतवर्ण वाला भी नहीं है, वह सुगन्ध और दुर्गन्धवाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण, कटु, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है । इस प्रकार मुक्तात्मा में रूप, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श भी नहीं है[११]। आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में मोक्ष-दशा का निषेधात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं मोक्ष-दशा में न सुख है न दुःख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है। न वहाँ इन्द्रियाँ है, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, न आर्त-रौद्र विचार ही है, वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (प्रशस्त) विचारों का भी अभाव है[१२]। मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है, वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है वह पक्षातिक्रांत है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

मोक्ष का अनिर्वचनीय स्वरूप

मोक्षतत्त्व का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से हमें उसकी अनिर्वचनीयता की ओर ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

आचारांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है— समस्त स्वर वहाँ से लौट आते हैं, अर्थात् मुक्तात्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कदापि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है, अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है, क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्ताधान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके[१३]। उसके बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है, वह अरूप, अरस, अवर्ण, अगंध और अस्पर्श है क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

गीता में मोक्ष का स्वरूप

गीता की समग्र साधना का लक्ष्य परमतत्त्व, ब्रह्म, अक्षर पुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति कहा जा सकता है। गीताकार प्रसंगान्तर से उसे ही मोक्ष, निर्वाणपद, अव्यय पद, परमपद, परमगति और परमधाम भी कहता है। जैन एवं बौद्ध विचारणा के समान गीताकार की दृष्टि में भी संसार पुनरागमन या जन्म-मरण की प्रक्रिया से युक्त है जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म-मरण का अभाव है। गीता का साधक इसी प्रेरणा को लेकर आगे बढ़ता है (जरामरणमोक्षाय ७.२९) और कहता है, "जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं लौटना होता है उस परम पद की गवेषणा करनी चाहिए"[१४]। गीता का ईश्वर भी साधक को आश्वस्त करते हुए यही कहता है कि "जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में आना नहीं होता, वही मेरा परमधाम (स्वस्थान) है।" परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःखों के घर इस अस्थिर पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त समग्र जगत् पुनरावृत्ति युक्त है। लेकिन जो भी मुझे प्राप्त कर लेता है उसका पुर्नजन्म नहीं होता।[१५] मोक्ष के अनावृत्ति रूप लक्षण को बताने के साथ ही मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है— इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्त्व है, जो सभी प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना पर्यायों में जो अव्यक्त है उनसे भी परे उनका आधारभूत आत्मतत्त्व है। चेतना की अवस्थाएँ नश्वर हैं, लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्त्व सनातन है जो प्राणियों में चेतना (ज्ञान) पर्यायों के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी उन प्राणियों तथा उनका चेतना पर्यायों (चेतन अवस्थाओं) के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है और उसे ही परमगति भी कहते हैं, वही परमधाम भी है, वही मेरा परमात्म स्वरूप आत्मा का निज स्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निवर्तन नहीं होता[१६]। उसे अक्षर ब्रह्म, परमतत्त्व, स्वभाव (आत्मा की स्वभाव-दशा) और आध्यात्म भी कहा जाता है[१७]। गीता की दृष्टि में मोक्ष निर्वाण है परमशान्ति का अधिष्ठान है[१८]। जैन दार्शनिकों के समान गीता भी यह स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। गीता के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अनन्त सुख (अनन्त सौख्य) का अनुभव करता है[१९]। यद्यपि गीता एवं जैन दर्शन में मुक्तात्मा में जिस सुख की कल्पना की गई है वह न ऐन्द्रिय सुख है न वह मात्र दुःखाभाव रूप सुख है, वरन् वह अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अनश्वर सुख है[२०]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप

भगवान् बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न प्रारम्भ से विवाद का विषय रहा है। स्वयं बौद्ध दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों में भी निर्वाण के स्वरूप को लेकर आत्यन्तिक विरोध पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं, जो एक तुलनात्मक अध्येता को अधिक कठिनाई में डाल देते हैं। वस्तुत: इस कठिनाई का मूल कारण पालि निकाय में निर्वाण का विभिन्न दृष्टियों से अलग-अलग प्रकार से विवेचन किया जाना है। आदरणीय श्री पुसे[२१] एवं प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त[२२] ने बौद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में विद्वानों के दृष्टिकोणों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया है—

(१) निर्वाण एक अभावात्मक तथ्य है।

(२) निर्वाण अनिवर्चनीय अव्यक्त अवस्था है।

(३) निर्वाण की बुद्ध ने कोई व्याख्या नहीं दी है।

(४) निर्वाण भावात्मक विशुद्ध पूर्ण चेतना की अवस्था है।

बौद्ध दर्शन के अवान्तर प्रमुख सम्प्रदायों का निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टि भेद है—

(१) वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण संस्कारों या संस्कृत धर्मों का अभाव है, क्योंकि संस्कृत धर्मता ही अनित्यता है, यही बन्धन है, यही दु:ख है, लेकिन निर्वाण तो दु:ख निरोध है, बन्धनाभाव है इसलिए वह एक असंस्कृत धर्म है और असंस्कृत धर्म के रूप में उसकी भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक मत के निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्मकोष व्याख्या में निम्न प्रकार से बताया गया है— "निर्वाण नित्य असंस्कृत स्वतन्त्र सत्ता, पृथक्-भूत, सत्य पदार्थ (द्रव्यसत) है"[२३]। निर्वाण में संस्कारों के अभाव का अर्थ अनसित्व नहीं है, वरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असंस्कृत धर्म है। प्रोफेसर शरवात्स्की[२४] ने वैभाषिक निर्वाण को अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नहीं वरन् चेतना एवं क्रिया शून्य जड़ अवस्था है। लेकिन समादरणीय एस० के० मुकर्जी, प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त[२५] और प्रोफेसर मूर्ति[२६] ने प्रोफेसर शरवात्सकी के इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इन विद्वानों के अनुसार वैभाषिक निर्वाण निश्चित रूप से एक भावात्मक अवस्था है। इसमें यद्यपि संस्कारों का अभाव होता है फिर भी उसकी असंस्कृत धर्म के रूप में भावात्मक सत्ता होती है। वैभाषिक निर्वाण में चेतना का अस्तित्व होता है या नहीं? यह प्रश्न भी विवादास्पद है। प्रोफेसर शरवात्सकी निर्वाण-दशा में चेतना का अभाव मानते हैं लेकिन प्रोफेसर मुकर्जी[२७] इस सम्बन्ध में एक परिष्कारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार (यशोमित्र की अभिधर्मकोष की टीका के आधार पर निर्वाण की दशा में विशुद्ध मानस या चेतना रहती है।

(२) डॉ० लाड ने अपने शोध-प्रबन्ध में एवं विद्वत्वर्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध दर्शन मीमांसा में वैभाषिक बौद्धों के एक तिब्बतीय उप सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में केवल वासनात्मक एवं क्लेशोत्पादक (सास्रव) चेतना का ही अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण की दशा में अनास्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है[२८]। वैभाषिकों के इस उप सम्प्रदाय का यह दृष्टिकोण जैन विचारण के निर्वाण के अति समीप आ जाता है, क्योंकि यह जैन विचारणा के समान निर्वाणावस्था में सत्ता (अस्तित्व) और चेतना (ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग) दोनों को स्वीकार करता है। वैभाषिक दृष्टिकोण निर्वाण को संस्कारों की दृष्टि से अभावात्मक, द्रव्य सत्यता की दृष्टि से भावात्मक एवं बौद्धिक विवेचना की दृष्टि से अनिर्वचनीय मानता है, फिर भी उसकी व्याख्याओं में निर्वाण का भावात्मक या सत्तात्मक पक्ष अधिक उभरा है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय, वैभाषिक सम्प्रदाय के समान यह मानते हुए भी कि निर्वाण संस्कारों का अभाव है, वह स्वीकार नहीं करता है कि असंस्कृत धर्म की कोई भावात्मक सत्ता होती है। इनके अनुसार केवल परिवर्तनशीलता ही तत्त्व का यथार्थ स्वरूप है। अत: सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असंस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता में ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। शरवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में 'निर्वाण का अर्थ है जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो जाना, इसके पश्चात् ऐसा कोई जीवनशून्य तत्त्व शेष नहीं रहता है, जिसमें जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो गई है। निर्वाण क्षणिक चेतना-प्रवाह का समाप्त हो जाना है, जिसके समाप्त हो जाने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, क्योंकि इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तनशीलता के अतिरिक्त तत्त्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है और निर्वाण-दशा में परिवर्तनों की शृंखला समाप्त हो जाती है, अत: उसके परे कोई सत्ता शेष नहीं रहती है। इस प्रकार सौत्रान्तिक निर्वाण मात्र अभावात्मक अवस्था है। वर्तमान में वर्मा और लंका के बौद्ध निर्वाण को अभावात्मक एवं अनस्तित्त्व के रूप में देखते हैं। निर्वाण के भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय पक्षों की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारणा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है। इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का निर्वाण सम्बन्धी अभावात्मक दृष्टिकोण जैन विचारणा के विरोध में जाता है। लेकिन सौत्रान्तिकों में भी एक ऐसा उपसम्प्रदायदशा था।' जिसके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना पर्यायों का प्रवाह रहता है। यह दृष्टिकोण जैन विचारणा की इस मान्यता के निकट आता है, जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में भी आत्मा में परिणामीपन बना रहता है अर्थात् मोक्ष-दशा में आत्मा में चैतन्य ज्ञान धारा सतत् रूप से प्रवाहित होती रहती है।

(३) विज्ञानवाद (योगाचार)—महायान के प्रमुख ग्रन्थ लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्ति विज्ञानों की अप्रवृतावस्था है; चित्त प्रवृत्तियों का निरोध है।[२९] स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।[३०] असंग के अनुसार निवृत्त चित्त (निर्वाण) उचित है, क्योंकि वह विषयों का ग्राहक नहीं है। वह अनुपलम्भ है, क्योंकि उसको कोई बाह्य आलम्बन नहीं है और इस प्रकार आलम्बन रहित होने से लोकोत्तर ज्ञान है। दौष्ठुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से निवृत्त चित्त (आलयविज्ञान) परावृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता, प्रवृत्त नहीं होता।[३१] वह अनावरण और आस्रवधातु है, लेकिन असंग केवल इस निषेधात्मक विवेचन से सन्तुष्ट नहीं होते हैं, वे निर्वाण की अनिर्वचनीय एवं भावात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। निर्वाण अचिन्त्य है, क्योंकि तर्क से उसे जाना नहीं जा सकता लेकिन अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुख रूप है, विमुक्तकाय है, और धर्माख्य है।[३२] इस प्रकार विज्ञानवादी मान्यता में निर्वाण की अभावपरक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उनकी अनिर्वचनीयता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुत: निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है। लंकावतारसूत्र में निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है। लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण विचार की कोटियों से परे है, फिर भी विज्ञानवादी निर्वाण को इस आधार पर नित्य माना जा सकता है कि निर्वाण लाभ से ज्ञान उत्पन्न होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर विज्ञानवादी निर्वाण का जैन विचारणा से निम्न अर्थों मे साम्य है—१. निर्वाण चेतना का अभाव नही है, वरन् विशुद्ध चेतना की अवस्था है। २. निर्वाण समस्त संकल्पों का क्षय है, वह चेतना की निर्विकल्पावस्था है। ३ निर्वाणावस्था में भी चैतन्य धारा सतत् प्रवाहमान रहती है (आत्मपरिणमीपन)। यद्यपि डॉ०चन्द्रधर शर्मा ने आलय विज्ञान को अपरिवर्तनीय या कूटस्थ माना है।[३३] लेकिन आदरणीय बलदेव उपाध्याय उसे प्रवाहमान या परिवर्तनशील ही मानते हैं।[३४] ४. निर्वाणावस्था सर्वज्ञता की अवस्था है। जैन विचारणा के अनुसार उस अवस्था में केवलज्ञान और केवल दर्शन है। असंग ने महायान सूत्रालंकार में धर्मकाय को जो कि निर्वाण की पर्यायवाची है, स्वाभाविक काय कहा है।[३५] जैन विचारणा में भी मोक्ष को स्वभाव-दशा कहा जाता है। स्वाभाविक काय और स्वभाव-दशा अनेक अर्थों मे अर्थ साम्य रखते हैं।

(४) शून्यवाद—बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। जैन तथा अन्य दार्शनिकों ने शून्यता को अभावात्मक रूप में देखा है, लेकिन यह उस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को समझने में सबसे बड़ी भ्रान्ति ही कही जा सकती है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिवर्चनीय है, चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है, वही परमतत्त्व है। वह न भाव है, न अभाव है।[३६] यदि वाणी से उसका विवेचन करना ही आवश्यक हो तो मात्र यह कहा जा सकता है कि निर्वाण अप्रहाण, असम्प्राप्त, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनिरुद्ध एवं अनुत्पन्न है।[३७] निर्वाण को भाव रूप इसलिए नहीं माना जा सकता है कि भावात्मक वस्तु या तो नित्य होगी या अनित्य। नित्य मानने पर निर्वाण के लिए किये गये प्रयासों का कोई अर्थ नहीं होगा। अनित्य मानने पर बिना प्रयास ही मोक्ष होगा। निर्वाण को अभाव भी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा तथागत के द्वारा उसकी प्राप्ति का उपदेश क्यों दिया जाता। निर्वाण को प्रहाण और सम्प्राप्त भी नही कहा जा सकता, अन्यथा निर्वाण कृतक एवं कालिक होगा और यह मानना पड़ेगा कि वह काल विशेष में उत्पन्न हुआ है और यदि वह उत्पन्न हुआ है तो वह जरा-मरण के समान अनित्य ही होगा। निर्वाण को उच्छेद या शाश्वत भी नहीं कहा जा सकता अन्यथा शास्ता के मध्यम-मार्ग का उल्लंघन होगा और हम उच्छेदवाद या शाश्वतवाद की मिथ्या दृष्टि से ग्रसित होंगे। इसलिए माध्यमिक नय में निर्वाण भाव और अभाव दोनों नहीं है। वह तो सर्व संकल्पनाओं का क्षय है, प्रपंचोपशमता है।

बौद्ध दार्शनिकों एवं वर्तमान युग के विद्वानों में बौद्ध दर्शन में निर्वाण के स्वरूप को लेकर जो मतभेद दृष्टिगत होता है उसका मूल कारण बुद्ध द्वारा निर्वाण का विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विविध रूप से कथन किया जाना है। पाली-निकाय में निर्वाण के इन विविध स्वरूपों का विवेचन उपलब्ध होता है। उदान नामक एक लघु ग्रन्थ में ही निर्वाण के इन विविध रूपों को देखा जा सकता है।

निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है

इस सन्दर्भ में बुद्ध वचन इस प्रकार है— "भिक्षुओं! (निर्वाण) अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है। भिक्षुओं! यदि वह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत नहीं होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम नहीं हो सकता। भिक्षुओं! क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है इसलिए जात भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है।[३८] धम्मपद में निर्वाण को परम सुख,[३९] अच्युत स्थान और अमृत पद[४०] कहा गया है जिसे प्राप्त कर लेने पर न च्युति का भय होता है, न शोक होता है। उसे शान्त संसारोपशम एवं सुख पद भी कहा गया है[४१]। इतिवुत्तक में कहा गया है— वह ध्रुव, न उत्पन्न होने वाला है, शोक और राग रहित है, सभी दु:खों का वहाँ निरोध हो जाता है, वहाँ संस्कारों की शान्ति एवं सुख है[४२]। आचार्य बुद्धघोष निर्वाण की भावात्मकता का समर्थन करते हुए विशुद्धिमग्ग में लिखते हैं—निर्वाण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। प्रभव और जरामरण के अभाव से नित्य है—अशिथिल, पराक्रम सिद्ध, विशेष ज्ञान से प्राप्त किए जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण अविधमान नहीं है।[४३]

निर्वाण की अभावात्मकता

निर्वाण की अभावात्मकता के सम्बन्ध में उदान के रूप में निम्न बुद्ध वचन है, "लोहे पर घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं वो तुरन्त ही बुझ जाती हैं, कहाँ गई कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाये हुए पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता"।[४४]

शरीर छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई, सारी वेदनाओं को भी बिलकुल जला दिया। संस्कार शान्त होगए; विज्ञान अस्त हो गया।[४५]

लेकिन दीप शिखा और अग्नि के बुझ जाने अथवा संज्ञा के निरुद्ध हो जाने का अर्थ अभाव नहीं माना जा सकता, आचार्य बुद्धघोष विशुद्धिमग्ग में कहते हैं— निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है[४६]। प्रोफेसर कीथ एवं प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त अग्गि वच्छगोत्तमुत्त के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि बुझ जाने का अर्थ अभावात्मकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है, वरन् अस्तित्व की रहस्यमय, अवर्णनीय अवस्था है। प्रोफेसर कीथ के अनुसार निर्वाण अभाव नहीं वरन चेतना का अपने मूल (वास्तविक शुद्ध) स्वरूप में अवस्थित होना है। प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त के शब्दों में निर्वाण की अग्नि शिखा के बुझ जाने से, की जाने वाली तुलना समुचित है, क्योंकि भारतीय चिन्तन में आग के बुझ जाने से तात्पर्य उसके अनिस्तत्व से न होकर उसका स्वाभाविक शुद्ध अदृश्य, अव्यक्त में चला जाना है, जिसमें कि वह अपने दृश्य प्रकटन के पूर्व रही हुई थी। बौद्ध दार्शनिक संघभद्र का भी यही निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नहीं है कि निर्वाण अभाव है।[४७] मिलिन्दप्रश्न के अनुसार भी निर्वाण अस्ति धर्म (अत्थिधम्म) एकान्त सुख एवं अप्रतिभाग है, उसका लक्षण स्वरूपत: नहीं बताया जा सकता किन्तु गुणत: दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जल प्यास को शान्त करता है, इसी प्रकार निर्वाण त्रिविध तृष्णा को शान्त करता है। निर्वाण को अकृत कहने से भी उसकी एकान्त अभावात्मकता सिद्ध नहीं होती। आर्य (साधक) निर्वाण का उत्पाद नहीं करता फिर भी वह उसका साक्षात्कार (साक्षीकरोति) एवं प्रतिलाभ (प्राप्रोति) करता है। वस्तुत: निर्वाण को अभावात्मक रूप में इसीलिए कहा जाता है कि अनिर्वचनीय का निर्वचन करना भावात्मक भाषा की अपेक्षा अभावात्मक भाषा अधिक युक्तिपूर्ण होता है।

निर्वाण की अनिर्वचनीयता—निर्वाण की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में निम्न बुद्ध-वचन उपलब्ध हैं—"भिक्षुओं! न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरता है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है, यही दु:खों का अन्त है।[४८] भिक्षुओं! अनन्त[४९] का समझना कठिन है, निर्वाण का समझना आसान नहीं। ज्ञानी की तृष्णा नष्ट हो जाती है उसे (रागादिक्लेश) कुछ नहीं है।[५०] जहाँ (निर्वाण) जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नहीं ठहरती, वहाँ न तो शुक्र और न आदित्य प्रकाश करते हैं। वहाँ चन्द्रमा की प्रभा भी नहीं है, न वहाँ अंधकार ही होता है। जब क्षीणाश्रव भिक्षु अपने आपको जान लेता है तब रूप-अरूप तथा सुख-दु:ख से छूट जाता है।[५१] उदान का यह वचन हमें गीता के उस कथन की याद दिला देता है, जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं जहाँ न पवन बहता है, न चन्द्र सूर्य प्रकाशित होते हैं, जहाँ जाने से पुन: इस संसार में आया नहीं जाता वही मेरा (आत्मा का) परम धाम (स्वस्थान) है।"

बौद्ध निर्वाण की यह विशद विवेचना हमें इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन का निर्वाण अभावात्मक तथ्य नहीं था। इसके लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) निर्वाण यदि अभाव मात्र होता तो तृतीय आर्य सत्य कैसे होता? क्योंकि अभाव आर्य सत् का आलम्बन नहीं हो सकता।

(२) तृतीय आर्य सत्य का विषय द्रव्य सत् नहीं है तो उसके उपदेश का क्या मूल होगा?

(३) यदि निर्वाण मात्र निरोध या अभाव है तो उच्छेद-दृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी लेकिन बुद्ध ने तो सदैव ही उच्छेद-दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहा है।

(४) महायान की धर्मकाय की धारणा और उसकी निर्वाण से एकरूपता तथा विज्ञानवाद के आलयविज्ञान की धारणा निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या के विपरीत पड़ते हैं। अत: निर्वाण का तात्त्विक स्वरूप अभाव सिद्ध नहीं होता है। उसे अभाव या निरोध कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें वासना या तृष्णा का अभाव है। लेकिन जिस प्रकार रोग का अभाव, अभाव होते हुए भी सद्भूत है, उसे आरोग्य कहते हैं, उसी प्रकार तृष्णा का अभाव भी सद्भूत है उसे सुख कहा जाता है। दूसरे उसे अभाव इसलिए भी कहा जाता है कि साधक में शाश्वतवाद की मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न नहीं हो। राग का प्रहाण होने से निर्वाण में मैं (अत्त) और मेरापन (अत्ता) नहीं होता, इस दृष्टिकोण के आधार पर उसे अभाव कहा जाता है। निर्वाण राग तथा अहं का पूर्ण विगलन है। लेकिन अहं या ममत्व की समाप्ति को अभाव नहीं कहा जा सकता। निर्वाण की अभावात्मक कल्पना 'अनत्त' शब्द का गलत अर्थ समझने से उत्पन्न हुई है। बौद्ध दर्शन में अनात्म (अनत्त) शब्द आत्म (तत्व) का अभाव नहीं बताता वरन् यह बताता है कि जगत में अपना या मेरा कोई नहीं है, अनात्म का उपदेश आसक्ति प्रहाण के लिए, तृष्णा के क्षय के लिए है। निर्वाण 'तत्त्व' का अभाव नहीं वरन् अपनेपन या अहं का अभाव है। वह वैयक्तिकता का अभाव है, व्यक्तित्त्व का नहीं, अनत्त (अनात्म) वाद की पूर्णता यह बताने में है कि जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मेरा या अपना कहा जा सके। सभी अनात्म है। इस शिक्षा का सच्चा अर्थ यही है कि मेरा कुछ भी नहीं है। क्योंकि जहाँ मेरापन (अत्त भाव) आता है वहाँ राग एवं तृष्णा का उदय होता है। स्व पर में अवस्थित होता है, आत्मदृष्टि (ममत्व) उत्पन्न होती है। लेकिन यही आत्मदृष्टि स्व का पर में अवस्थित होना अथवा राग एवं तृष्णा की वृत्ति बन्धन है, जो तृष्णा है, वही राग है; और जो राग है वही अपनापन है। निर्वाण में तृष्णा का क्षय होने से राग नहीं होता, राग नहीं होने से अपनापन (अत्ता) भी नहीं होता। बौद्ध निर्वाण की अभावात्मकता का सही अर्थ इस अपनेपन का अभाव है, तत्त्व अभाव नहीं है। वस्तुत: तत्त्व लक्षण की दृष्टि से निर्वाण एक भावात्मक अवस्था है। मात्र वासनात्मक पर्यायों के अभाव के कारण ही वह अभाव कहा जाता है। अत: प्रोफेसर कीथ और नलिनाक्षदत्त की यह मान्यता कि बौद्ध निर्वाण अभाव नहीं है, बौद्ध विचारणा की मूल विचारदृष्टि के निकट ही है। यद्यपि बौद्ध निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है, फिर भी भावात्मक भाषा उसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि भाव किसी पक्ष को बताता है और पक्ष के लिए प्रतिपक्ष की स्वीकृति अनिवार्य है जबकि निर्वाण तो पक्षातिक्रांत है। निषेधमूलक कथन की यह विशेषता होती है कि उसके लिए किसी प्रतिपक्ष की स्वीकृति को आवश्यक नहीं बढ़ा सकता। अत: अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में निषेधात्मक भाषा का प्रयोग ही अधिक समीचीन है। इस निषेधात्मक विवेचन शैली ने निर्वाण की अभावात्मक कल्पना को अधिक प्रबल बनाया है। वस्तुत: निर्वाण अनिर्वचनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. कृत्स्न कर्मक्षयान् मोक्षः, तत्वार्थसूत्र, विवे०, पं० सुखलाल संधवी, प्रका०, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६, १०१।

२. बन्ध वियोगो मोक्षः—अभिधानराजेन्द्रकोष, श्री विजय राजेन्द्र सूरि जी, रतलाम, खण्ड ६, पृ० ४३१

३. मुक्खो जीवस्स शुदद्ध रूचस्स—वही, खण्ड ६, पृ० ४३१

४. तुलना कीजिए— (अ) आत्म मीमांसा (दलसुखभाई), पृ०६६-६७ (ब) ममेति वध्यते जन्तुर्नममेति प्रमुच्यते। — गरुड़ पुराण।

५. अव्वावाहं अवत्थाणं—अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ६, पृ० ४३१।

६. नियमसार, अनु० अगरसेन, अजिताश्रम, लखनऊ, १९६३, १७६-१७७।

७. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलविरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत ।। —वही, १८१

८. कुछ विद्वानों ने अगुरुलघुत्व का अर्थ न हल्का न भारी ऐसा भी किया है।

९. प्रवचनसारोद्धार, संपा०, नेमिचन्द्रसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बबई, १९२२, द्वार २७६, गाथा १५९३-१५९४।

१०. सदासिव सखो मक्कडि बुद्धौ णैयाइयो य वेसेसी।
ईसर मडलि दंसण विदूसणट्ठं कयं एदं ।। —गोम्मटसार (नेमिचन्द्र) संपा०, पं० खूबचन्द्र जैन, प्रका०, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास, वि०सं० २०२२।

११. से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिते, न हालिद्दे, न सुकिल्ले, न सुरभिगन्धे, न दुब्भिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खड़े, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रूहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे। — आचारांगसूत्र, संपा०, मधुकर मुनि, प्रका०, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १/५/६।

१२. णवि दुःक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होई णिव्वाणं ।।
मोहो विम्हियो ण णिद्दाय।
त्थेव हवदि णिव्वाणं ।। —नियमसार, संपा० पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रका० दिग० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, १९८८, अनु० अगरसेन, अजिताश्रम, लखनऊ, १९६३, १७८-१७९।

१३. मनसा सह—तैत्तरीय २/९ —मुण्डक ३/१/८

१४. यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। —गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, १५/४।

१५. (अ) यं प्राप्य न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम। —वही, ८/२१।
(ब) यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। —वही, १५/६।
(स) मामुपेत्य पुर्नजन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः। —वही, ८/१५।

१६. गीता—८/२०-२१

१७. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यत्ममुच्यते। —वही, ८/३।

१८. शान्तिं निर्वाणपरमां। —वही, ६/१५।

१९. सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। —वही, ६/२८

२०. सुखमात्यन्तिकं यत्तादबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। —वही, ६/२१।

२१. इनसाइक्लोपेडिया आफ इथिक्स एण्ड रिलीजन, संपा०, जेम्स हैस्टिंग, प्रका०, टी०एण्ड टी० क्लार्क, एडिनबर्ग।

२२. आस्पेक्टस ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान।

२३. द्रव्यं सत् प्रतिसंख्या निरोधः सत्यचतुष्टय—निर्देश-निर्द्दिष्टत्वात्, मार्ग सत्येव इति वैभाषिकाः। —यशोमित्र-अभिधर्मकोष व्याख्या, पृ० १७।

२४. बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ० २७।

२५. आस्पेक्ट्स ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान, पृ० १६२

२६. सेंट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म, टी०आर०वी०मूर्ति, प्रका० जॉर्ज, एलेन एण्ड टी०क्लार्क, एडिनबर्ग १९५५, पृष्ठ १२९, पृ० २७२-७३।

२७. बुद्धिस्ट फिलासफी ऑफ युनिवर्सल फ्लक्स, सत्कारी मुखर्जी, प्रका०, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस १९३५, पृ० २५२।

२८. ए कम्परेटिव स्टेडी ऑफ दी कानसेप्ट ऑफ लिबरेशन इन इंडियन फिलॉसफी, डॉ० अशोक कुमार लाड, प्रका० गिरधारी लाल केशवदास, बुरहानपुर, पृ० ६९।
(ब) बौद्ध दर्शन मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रका०, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १९७८, पृ० १४७।

२९. लंकावतारसूत्र, संपा०, श्री परशुराम शर्मा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९६३, २/६२।

३०. क्लेशज्ञेयावरण प्रहाणभपि मोक्ष सर्वज्ञात्वाधिगमार्थम।—स्थिरमति त्रिशिंका विज्ञप्ति भाष्य, पृ० १५, उद्धृत- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्धदर्शनमीमांसा, पृष्ठ १३२।

३१. अचित्तोऽनुपलम्भो सो ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्। आश्रयस्यपरावृतिद्विघा-दौष्ठुल्य हानितः। —त्रिशिंका २९

३२. स एवानास्त्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।—त्रिशिंका ३०

33. Acritical Survey of Indian Philosophy, Pub. - Motilal Banarasidas, Delhi, 1979, p. 109.

३४. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १२६-१३८।

३५. महायान सूत्रालंकार, सपां० एस०एस०बागची, प्रका० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९७०, ९/६० (महायान-शान्तिभिक्षु, पृष्ठ७३)

३६. भावाभाव परामर्शक्षयो निर्वाणं उच्यते। —माध्यमिककारिकावृति, पृष्ठ ५२४।
(उद्धृत दी सेंट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धीज्म (टी. आर. वी. मूर्ति) पृष्ठ २७४।

३७. अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरूद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ।। —माध्यमिककारिकावृत्ति। पृ० ५२१, उद्धृत आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ १३३।

३८. उदान अनु० जगदीश कश्यप, प्रका० महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, ८/३ पृ० ११०-१११ (ऐसा ही वर्णन इतिवुत्तक २/२/६ में भी है)

३९. धम्मपद, अनु० पं०राहुल सांकृत्यायन, प्रका०, बुद्ध विहार, लखनऊ, २०३, २०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. अमतं सन्ति निव्वाण पदमच्चुतं—सुत्तनिपात-पारायण वग्ग, अनु० भिक्षु धर्मरत्न, प्रका०, महाबोधिसभा, बनारस १९५०।

४१. पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं—धम्मपद, अनु० पं०राहुल सांकृत्यायन, ३६८।

४२. इत्तिवुत्तक, धर्मरक्षित, प्रका०, महाबोधि सभा, सारनाथ बुद्धाब्द, २४९९, २/२/६।

४३. विशुद्धिमग्ग, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, प्रका०, महाबोधिसभा, वाराणसी १९५६, परिच्छेद १६, भाग २, पृ० ११९-१२१ (हिन्दी अनु० भिक्षु धर्मरक्षित)

४४. उदान, अनु०, जगदीश कश्यप, प्रका० महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, पाटलिग्राम वर्ग ८/१०।

४५. वही, ८/९।

४६. विशुद्धिमग्ग, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, परिच्छेद ८ एवं १६।

४७. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २९४ पर उद्धृत।

४८. उदान, अनु० जगदीश कश्यप, ८/१।

४९. मूल पाली में, यहाँ पाठान्तर है—तीन पाठ मिलते हैं १. अनत्तं २. अनत ३. अनन्तं। हमने यहाँ "अनन्त" शब्द का अर्थ ग्रहण किया है। आदरणीय काश्यपजी ने अनत (अनात्म) पाठ को अधिक उपयुक्त माना है लेकिन अट्ठकथा में दोनों ही अर्थ लिए गए हैं।

५०. उदान, अनु० जगदीश कश्यप, ८/३।

५१. यत्थ आपो न पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति ।। — वही,१/१०।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।
तुलना कीजिए—न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।
— गीता, वही, १/१० तथा गीताप्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, १५/६।

•

स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं सवस्त्र की मुक्ति का प्रश्न

यापनीय परम्परा के विशिष्ट सिद्धान्तों में स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थमुक्ति (गृहस्थमुक्ति) और अन्यतैर्थिकमुक्ति ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो उसे दिगम्बर परम्परा से पृथक् करती हैं। एक ओर यापनीय संघ अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) का समर्थक है, तो दूसरी ओर वह स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थ (गृहस्थ) मुक्ति, अन्यतैर्थिक (अन्यलिंग) मुक्ति आदि का भी समर्थक है। यही बात उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के समीप खड़ा कर देती है। यद्यपि स्त्रीमुक्ति की अवधारणा तो श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम साहित्य उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा आदि में भी उपस्थित रही है, फिर भी तार्किक रूप से इसका समर्थन सर्वप्रथम यापनीयों ने ही किया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीमुक्ति निषेध के स्वर सर्वप्रथम पाँचवीं-छठी शती में दक्षिण भारत में ही मुखर हुए और चूँकि यहाँ आगमिक परम्परा को मान्य करने वाला यापनीय संघ उपस्थित था, अत: उसे ही उसका प्रत्युत्तर देना पड़ा।

श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद की जानकारी यापनीयों से प्राप्त हुई। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने सर्वप्रथम इस चर्चा को अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में यापनीय तन्त्र के उल्लेख के साथ उठाया है। इसके पूर्व, भाष्य और चूर्णि साहित्य में यह चर्चा अनुपलब्ध है। अत: सर्वप्रथम तो हमें यह देखना होगा कि इस तार्किक चर्चा के पहले स्त्रीमुक्ति से समर्थक और निषेधक निर्देश किन ग्रन्थों में मिलते हैं। सर्वप्रथम हमें उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तिम अध्ययन (ई० पू० द्वितीय-प्रथम शती) में स्त्री की तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[१] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा के अतिरिक्त यापनीय परम्परा में भी उत्तराध्ययन की मान्यता थी और उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा उसमें लगभग नवीं शती तक जीवित रही है, क्योंकि अपराजित ने अपनी भगवतीआराधना की टीका में उत्तराध्ययन से अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो क्वचित् पाठभेद के साथ वर्तमान उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध हैं। समवायांग, नन्दीसूत्र आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में अंगबाह्य के रूप में, तत्त्वार्थभाष्य के साथ-साथ तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में एवं षट्खण्डागम की धवला टीका में भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उत्तराध्ययन का उल्लेख पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने उत्तराध्ययन को ई०पू० तृतीय से ई०पू० प्रथम शती के मध्य की रचना माना है। उत्तराध्ययन की अपेक्षा किंचित् परवर्ती श्वेताम्बर मान्य आगम ज्ञाताधर्मकथा (ई०पू० प्रथम शती) में मल्लि नामक अध्याय (ई० सन् प्रथम शती) में तथा अन्तकृद्दशांग के अनेक अध्ययनों में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख हैं।[२] आगमिक व्याख्या आवश्यकचूर्णि[३] (सातवीं शती) में भी मरुदेवी की मुक्ति का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ कषायप्राभृत एवं षट्खण्डागम भी स्त्रीमुक्ति के समर्थक हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक जैन परम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।[४] यद्यपि यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम भी सुत्तपाहुड का ही समकालीन ग्रन्थ माना जा सकता है, फिर भी उसमें स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूल ग्रन्थों में तो पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में चौदह गुणस्थानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org